

## शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण

**जो** समाज जाति या नस्ल के आधार पर बने होते हैं वे यह मानते हैं कि इंसान वास्तव में गैर-बराबर हैं। उनकी धारणा है कि कुछ इंसान दूसरों से बुनियादी रूप से श्रेष्ठ हैं। अक्सर इसकी पैरवी आनुवांशिक गुणों और खून में श्रेष्ठता की भाषा में की जाती है, जिसमें यह मान्यता निहित है कि ये गुण अपरिवर्तनीय हैं। दूसरी ओर बहुत से वर्तमान समाज स्वतंत्र और समानता को बहुत ऊंचा दर्जा देते हैं। वे इस विश्वास पर निर्मित किए गए हैं कि सभी इंसान एक समान जन्मे हैं। यहां ज्यादातर लोग यह मानते हैं कि कोई भी बच्चा विकास करने के लिए और किसी भी पद/स्थान की आकांक्षा रखने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। इसे गलत माना जाता है कि किसी प्रकार के सामाजिक नियम केवल कुछ परिवारों को समृद्ध बनने की संभावना देते हैं, जिससे कि उनकी सेवा करना बाकी सबकी मजबूरी बन जाता है। तथापि, इन आदर्शों के बावजूद भी हमें अवसरों के रास्ते में ढेरों रुकावटें नजर आती हैं। बच्चे समान जन्म लें लेकिन फिर भी केवल गरीब परिवार में जन्म लेने के संयोग मात्र से बड़े होते समय उन्हें अवसर या सहारा मिलने में नई अड़चनें आती हैं। समाज के स्तरीकरण (Stratification) का अध्ययन उन प्रक्रियाओं की पड़ताल करता है जिसके जरिए लोगों के भावी जीवन में जीने के अवसर घटते या बढ़ते हैं।

संभवतः इतिहास में कभी भी पूरी तरह समानता मौजूद नहीं रही है। फिर भी हमें कुछ समाजों में भारी असमानताएं दिखती हैं तो कुछ में कम। दसवीं सदी के भारत में केवल चंद परिवारों के बच्चे ही राज दरबार में ऊंचे पद तक पहुंच सकते थे। आज यह कम से कम सिद्धान्त रूप से संभव है कि एक किसान का बच्चा या एक सफाईकर्मी की बच्ची मुख्यमंत्री या यहां तक कि राष्ट्रपति तक बन सके। असमानता

का आधार बदला हुआ नजर आता है- जिस समुदाय में कोई पैदा हुआ हो इसके प्रधान महत्त्व के बजाए, जिस परिवार में कोई पैदा हुआ हो उसकी आर्थिक स्थिति का महत्त्व कहीं ज्यादा दिखता है। शिक्षा का एक रोमांचक पहलू यह है कि यह किस प्रकार लोगों के लिए अवसर बढ़ा सकती है और सत्ता, संसाधनों एवं सम्मान तक उनकी पहुंच बना सकती है। जिस प्रकार हमारे पिछले अंक के लेख आधुनिक शिक्षा के उदय के विषय में बताते हैं, शैक्षणिक संस्थानों का ऐतिहासिक विकास काफी हद तक अधिक समानता की और समाज के विभिन्न वर्गों के बीच की दीवारों को भेधने की चाह से जुड़ा रहा है। लेकिन दूसरी ओर, शिक्षा स्वयं भी असमानता के नए स्वरूपों के बढ़ने के साथ जुड़ी रही है। इसे भी सावधानी से समझना होगा।

मौजूदा अंक यह तलाशने की कोशिश करता है कि समाजशास्त्र की दृष्टि से शिक्षा और सामाजिक असमानता का क्या रिश्ता है। इसमें ऐसे लेख या पुस्तकों के अंश लिए गए हैं जो कि इस संबंध को देखने के बुनियादी तरीकों के उदाहरण पेश करते हैं। हम उन लेखों से शुरू करते हैं जो शिक्षा के जरिए समानता में आने वाली बाधाओं का वर्णन व व्याख्या करते हैं। फिर हम पूरे विश्व में मौजूद हालातों की ओर जाकर यह देखते हैं कि मानव समाज में शिक्षा व सामाजिक असमानताओं (स्तरीकरण) को लेकर क्या व्यापक सिद्धान्त पेश किए गए हैं। ढांचागत प्रकार्यवादी (Structural-functionalist) परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ द्वंद्ववादी परिप्रेक्ष्य (Conflict Perspective) के नमूने शामिल किए गए हैं। द्वंद्ववादी परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी तथा वेबरवादी, दोनों ही सैद्धान्तिक पक्ष, इन परंपराओं के कुछ बेहतरीन लेखों के जरिए दर्शाए गए हैं।

शुरुआत में, सुमा चिटनिस का लेख, यद्यपि कुछ पुराना है, तब भी हमें एक ठोस रूप से भारतीय शिक्षा में सामाजिक स्तरीकरण का जायजा देता है। सुमा ने बहुत से सर्वे व सरकारी रपटें एकत्र कर मुंबई की शिक्षा में असमानता का एक चित्र खींचा है। मुंबई में तीन बड़े वर्गों के स्कूल विद्यमान हैं- सरकारी, सहायता प्राप्त तथा गैर-सहायता प्राप्त। चिटनिस ने स्पष्ट रूप से दर्शाया है कि सामाजिक वर्ग और जिस स्कूल तक किसी की पहुंच है, दोनों में किस प्रकार सीधा संबंध है। मिन्युसिपल स्कूलों में गरीबों के बच्चे जाते हैं। इन सभी स्कूलों में असमान रूप से ज्यादा ट्राप-आउट और हाजिरी की अनियमितताएं दिखती हैं। स्कूल में जो असमानताएं उभरती हैं वे उच्च शिक्षा में कई गुना ज्यादा हो जाती हैं। चिटनिस कहती हैं कि गरीबी ही असमान शिक्षा के पीछे सबसे बड़ा कारक है। हालांकि जाति भी अपनी भूमिका निभाती है। चिटनिस आंकड़ों के जरिए दर्शाती हैं कि कुछ समुदाय संसाधन-विहीनता और सामाजिक सत्ता-विहीनता का दोहरा बोझ झेलते हैं।

एक और गहरे पैठी असमानता जेण्डर की है। पुरुष और स्त्री भिन्न पैदा होते हैं, पर पूरे इतिहास में समाजों ने उनके बीच इस अंतर को बढ़ा-चढ़ाकर एक विशाल खाई में बदल दिया है। जाति और वर्ग की तरह जेण्डर भी सामाजिक रिश्तों व संस्कृति के जरिए निर्मित किया जाता है। कुछ समाज अन्यों के बजाए औरतों को कहीं ज्यादा अवसर देते हैं और उनके प्रति कहीं ज्यादा खुलापन रखते हैं। एक पुरुष या एक स्त्री होने के क्या मायने हैं, यह हर रोज, बहुत से स्थानों पर सीखना पड़ता है, जिनमें परिवार और स्कूल शामिल हैं। नन्दिनी भट्टाचारजी के लेख में गुजरात के एक सरकारी प्राथमिक स्कूल में जेण्डर के निर्माण का संवेदनशील चित्रण है। बच्चे तथा शिक्षक घर से ही एक समझ लेकर आते हैं कि लड़कों व लड़कियों को कैसा व्यवहार करना चाहिए। लेकिन स्कूल में एक नई प्रकार की अन्तःक्रिया चालू होती है। चाहे यह भूमिकाओं के बंटवारे के जरिए हो या फिर किस प्रकार कक्षा का स्थान परिभाषित होता है, उसके जरिए हो। स्कूल जेण्डर तथा उसके सत्ता संबंधों के पुनरुत्पादन की एक महत्त्वपूर्ण स्थली के रूप में उभरता है।

कृष्ण कुमार विश्व में सत्ता व संपदा के वितरण में होने वाले बदलावों का एक विस्तृत चित्रण मिलाकर, उससे गुणवत्ता के प्रश्न पर पड़ने वाले प्रभाव को दर्शाते हैं। वैश्वीकरण के मिले-जुले प्रभाव रहे हैं, जिनमें से एक है देशों के बीच बढ़ती प्रतिस्पर्धा और बाजारीकरण। राष्ट्रों के बीच की दीवारों को हटाने के बजाए वैश्वीकरण ने उन्हें एक-दूसरे की मंशाओं के प्रति और अधिक असुरक्षित व चिंतित बना दिया है। नौकरियां अल्पावधि हो गई हैं और बाजार के उतार-चढ़ावों ने व्यक्तियों और कम्पनियों को आने वाले कल के बारे में असुरक्षा से भर दिया है। इस प्रक्रिया से शिक्षा के दो प्रमुख सरोकार प्रभावित हुए हैं : पहला, शिक्षा और काम का रिश्ता तथा दूसरा, शिक्षा व संस्कृति का रिश्ता। पहले मसले में तो यह सुझाया जा

रहा है कि शिक्षा का मकसद कर्तव्यनिष्ठ कामगार बनाने से ज्यादा कुछ नहीं है। शिक्षा में गुणवत्ता इस प्रकार उन कौशलों तक सीमित हो गई है, बाजार में अभी जिनकी मांग है। यह विचार कि शिक्षा मुक्त करने या इंसानी उन्नति के लिए है, अब ढलता नजर आता है। संस्कृति के क्षेत्र में स्थानीयता के नाम पर एक तीखा प्रतिक्रियावाद उभर रहा है। इसके जरिए बाजार के विस्तार और वैश्वीकरण को चुनौती मिलती लगती है, परन्तु स्थानीयता में भी इनकी तरह ही इंसानी गरिमा के प्रति निरादर है।

ऐसी स्थितियों में शिक्षा के परिणामों को ज्यादा से ज्यादा संकुचित रूप से मापने की प्रवृत्ति दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। कृष्ण कुमार पैरवी करते हैं कि गुणवत्ता को कहीं ज्यादा व्यापक रूप में देखना चाहिए। साथ ही इसे मापने योग्य परिमाणों के रूप में ही न देखकर, उन प्रक्रियाओं के रूप में भी देखना चाहिए, जिनके जरिए शिक्षा दी जाती है। गुणवत्ता पूरी व्यवस्था का लक्षण है, न केवल वह जो कि शिक्षा के अंत में इम्तिहान के जरिए जांचा जा सके। वे मानते हैं कि शिक्षा की सफलता सबसे बेहतर तब आंकी जा सकती है जब शिक्षार्थी नए ढंग से सोचना सीखे और नए ज्ञान व संरचनाओं का सृजन कर सके। ऐसे परिणामों का पूर्वानुमान असल में संभव नहीं है।

कृष्ण कुमार भारत से उदाहरण लेकर दर्शाते हैं कि शिक्षा में गुणवत्ता के संघर्ष को दूसरे तरीकों से भी कल्पना की जा सकती है। वे कहते हैं कि इस प्रकार के नवाचारों को मुख्यधारा में लाना और उन्हें साधारण शिक्षकों तक पहुंचाना बहुत आवश्यक है। उनका मानना है कि गुणवत्ता का अर्थ और उसे पाने के लिए जो भी चुनाव करने पड़ेंगे, वे केवल तभी समझे जा सकते हैं जब आप शिक्षा की बहसों के सामाजिक-आर्थिक संदर्भों की ओर ध्यान दें।

भारत में शिक्षा के वितरण को समानता की ओर ले जाने वाले प्रयासों में आरक्षण काफी विवादित रहा है। आरक्षण की बहस भी यही पूछती है कि क्या इससे कोई अंतर पड़ता भी है या नहीं। कुछ लोग दावा करते हैं कि यह राज्य द्वारा लिया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। दूसरे लोग तर्क देते हैं कि इससे कोई अंतर नहीं पड़ता और आरक्षण सरकार द्वारा पोषित एक छलावा मात्र है। आरक्षण के प्रभाव पर गंभीर अध्ययन काफी कम हैं।

थॉमस ई. वाइसकॉफ ने इस प्रश्न पर 2000 के दशक के बीच में जो भी सामग्री उपलब्ध थी उसकी पड़ताल की थी और यहां दिया लेख उसकी संक्षेप में व्याख्या करता है। सावधानी से प्रयोगात्मक अध्ययनों का हवाला देते हुए वे दलील देते हैं कि आरक्षण से अनुसूचित जाति/जनजाति के स्नातकों का सामाजिक-आर्थिक स्तर बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। आरक्षण के प्रभाव को भारत की अर्थव्यवस्था के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। कितना प्रभाव पड़ा है, यह इस बात पर काफी निर्भर करता है कि व्यक्ति किस प्रकार के उच्च शिक्षण संस्थान में गया है। छोटे शहरों के कला महाविद्यालयों से निकले लोगों के लिए गैर-आरक्षण वाले की तरह ही, बहुत-सी नौकरियां नहीं निकलतीं। ये केवल मुट्टीभर संभ्रांत शिक्षण संस्थान ही हैं जो अच्छे वेतन व प्रतिष्ठित पदों तक ले जाते हैं। आरक्षण ऐसे ही संस्थानों में सामाजिक आरोहण की ओर ले जाता दिखता है।

यह सामाजिक उन्नति भी बड़े स्तर पर होती नहीं दिखती। ऐसे संभ्रांत संस्थानों में पहुंचने वाले विद्यार्थी स्वयं अनुसूचित जातियों/जनजातियों के सर्वोपरि अंश से आते हैं। ऊपरी पर्त वाली प्रक्रिया यहां साबित होती दिखती है। फिर भी, यह ध्यान देना जरूरी है कि ये अनुसूचित जाति/जनजाति के शिक्षार्थी इन कुलीन विश्वविद्यालयों के अन्य शिक्षार्थियों के मुकाबले फिर भी कमतर सामाजिक/आर्थिक स्तर के होते हैं या ऐसे कह सकते हैं कि इन कुलीन संस्थानों के ज्यादातर शिक्षार्थी अर्थात् ऊंचे सामाजिक स्तर से आते हैं। शिक्षा व्यवस्था में एक बुनियादी समस्या बनी हुई है : वंचित तबके के लोगों के लिए शिक्षा में ऊंचे अंक लाना बहुत कठिन है।

वाइसकॉफ के अनुसार आरक्षण का मुख्य असर सामाजिक असमानता को कम करना नहीं है बल्कि यह भारतीय कुलीन वर्ग की प्रकृति को बदल रहा है। जहां पहले अनुसूचित तबकों की ऊपरी पर्त भी सबसे ज्यादा शक्तिशाली व प्रतिष्ठित पदों से बाहर रखी गई थी, अब उनके पैर दरवाजे के अंदर आ गए हैं। आरक्षण से असमानता का पूरा ढांचा तो खास

बदलता नहीं दिखता, तथापि कुलीन वर्गों का उद्गम बदलने लगा है। इसका क्या असर होने वाला है इस प्रश्न पर आगे शोध की आवश्यकता है।

क्या किसी अन्य प्रकार के आरक्षण के बारे में सोचा जा सकता है, जो सामाजिक बराबरी में ज्यादा योगदान दे सके ? सतीश देशपांडे और योगेन्द्र यादव का लेख जोर देकर इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देता है। इस लेख में ऐसी राजनीति से दूर रहने की पैरवी की गई है जिसमें सामाजिक अस्तित्व का इकलौता आधार जातिगत पहचान है। इसके बजाए, लेख कहता है कि हमारी जिन्दगियों पर असर डालने वाले सामूहिक अस्तित्व के कई स्वरूप हैं। लेखक एक छोटा जायजा इस बात का भी देते हैं कि कैसे विभिन्न समूह- क्षेत्र, ग्रामीण/शहरी, जेण्डर आदि शिक्षा तक पहुंच को प्रभावित करते हैं। केवल जाति को ही आरक्षण का आधार बनाने के बजाए, वे शिक्षार्थियों को मुआवजे के अंक देने के एक अन्य तरीके की पेशकश करते हैं। इसका आधार एक के बजाए सामाजिक समूहों का एक मिश्रण है। देशपांडे और यादव यह दर्शाते हैं कि अगर हम विकल्प सोचने लें तो कैसे अलग-अलग तरह के उत्तर निकल कर आते हैं।

फिर भी ज्यादा बड़े सवाल परेशान करते रहते हैं : क्या शिक्षा असल में भारतीय समाज को बदलने में मदद कर सकती है ? क्या शिक्षा असमानता से लड़ने का एक तरीका है या फिर ये मौजूदा असमानता को ही मजबूत करती है ? असल में एक समाज के स्तरीकरण में शिक्षा क्या भूमिका निभाती है ? इन लेखों के संग्रह का बाद वाला हिस्सा ऐसे प्रश्नों के उत्तर में लिखे गए शास्त्रीय लेख प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य ने बहुत से सिद्धान्त विकसित किए हैं जो समाज की घटनाओं का एक सामान्यीकृत ब्यौरा सघन रूप में प्रस्तुत करते हैं। समाजशास्त्र का एक ढांचा जो शिक्षा और सामाजिक असमानता के रिश्ते को समझने में मदद करता है 'ढांचागत-प्रकार्यतावाद' कहलाता है। यह दलील देता है कि शिक्षा समाज के लिए तयशुदा कार्य करती है और इन सब कार्यों के लिए शिक्षा में असमानता आवश्यक है। टालकॉट-पार्सन से लिया गया अंश सबसे बेहतरीन ढांचागत-प्रकार्यता के उदाहरणों में से एक है। पार्सन यह समझने में रुचि रखते हैं कि स्कूल अमेरिकी समाज के लिए क्या करता है। उनकी मुख्य रुचि इसके 'धर्म' में है, जिससे उनका अर्थ है कि शिक्षा किस प्रकार से समाज के स्थायित्व में और उसे बनाए रखने में मदद करती है। वे स्वीकार तो करते हैं, पर इसमें रुचि नहीं रखते कि यह कैसे समाज को कमजोर भी कर सकती है या उसमें कलह भी पैदा कर सकती है। उनके लिए वही प्रमुख कार्य है जो समाज के मौजूदा ढांचों को बनाए रखते हैं और पुख्ता करते हैं। इस संकुचित दृष्टि के बावजूद, वे जिस प्रकार शिक्षा के कार्यों की सूची बनाते हैं वह अपने विस्तार और सरलता में अद्भुत है। पार्सन के अनुसार, स्कूल कुल मिलाकर दो कार्यों के लिए बना है : समाजीकरण और भूमिका वितरण। समाजीकरण से उनका अर्थ है लोगों को उनकी वयस्क भूमिकाएं निभाने के लिए जो क्षमताएं व कौशल चाहिए, वे सिखाना। समाजों को बहुत-सी भूमिकाओं की आवश्यकता होती है- उन्हें रसोइए, बढ़ई, नर्स, गायक, दार्शनिक आदि बहुत से लोग चाहिए। वयस्क लोगों को बहुत से काम करने होते हैं। किसी समाज को चलाने के लिए स्कूलों को इन सब भूमिकाओं के लिए दक्षताएं मुहैया करवानी चाहिए। स्कूलों को लोगों को वह प्रतिबद्धता भी सिखानी पड़ेगी जो इन भूमिकाओं को अदा करने के लिए चाहिए। एक अच्छा रसोइया बनना केवल कड़खी चलाना सीखना ही नहीं है। उसके लिए अपने काम में गर्व कर सकना, स्वाद की समझ होना और दूसरों को खुश करने की इच्छा होना जरूरी है। स्कूल विभिन्न प्रकार की प्रतिबद्धताएं भी सिखाने योग्य होने चाहिए। साथ ही उन्हें युवाओं को समाज के बुनियादी मूल्यों के प्रति आम निष्ठा भी सिखानी चाहिए। अमेरिकी समाज में, जिसकी पार्सन्स मुख्यतः बात कर रहे थे, उपलब्धि एक बुनियादी मूल्य है।

पार्सन्स के अनुसार स्कूलों का दूसरा मुख्य कार्य लोगों को भूमिकाएं बांटना है। अगर एक समाज के पास केवल रसोइए हैं लेकिन बढ़ई नहीं हैं तो वह ज्यादा दिन नहीं चलेगा। प्रकार्यवादियों के लिए असमानता को हटाना असंभव तो है ही, वह समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भी है। पार्सन्स का कहना है कि असमानता मुख्यतः स्कूली शिक्षा द्वारा बनाई जाती है। जो व्यक्ति स्कूल में ज्यादा उपलब्धि दर्शाता है वह इस स्तरीकृत व्यवस्था में ज्यादा ऊंचा पहुंचता है। लेकिन कौनसे लोग उच्च उपलब्धि हासिल करते हैं ? पार्सन्स स्वीकार करते हैं कि स्कूली उपलब्धि व्यक्तिगत क्षमता से भी प्रभावित होती है

और सामाजिक मूल से भी। तथापि, बाकी लेख केवल इस पर केन्द्रित है कि किस प्रकार स्कूली कक्षा एक व्यवस्था के रूप में व्यक्तिगत उपलब्धि को प्रोत्साहित करती और मापती है। यद्यपि वे सामाजिक मूल के बारे में सचेत हैं, वे इस पर फिर वापस नहीं आते कि किस प्रकार सामाजिक स्थिति उपलब्धि को हासिल या बाधित करती है। पार्सन्स के सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल में ऐसा लगता है जैसे सारी असमानता केवल व्यक्तिगत दक्षता में अन्तर का ही परिणाम है और यह दक्षता ही स्कूली व्यवस्था में दिखती और फलती-फूलती है।

ढांचागत-प्रकार्यवादी मत के एकदम विपरीत है वह मत जिसे द्वंद्वात्मक परिप्रेक्ष्य कहा गया है। सैमुअल बाल्ज और हरबर्ट गिन्टिस जैसे मार्क्सवादी विचारकों ने एक आराम से चलने वाली व्यवस्था जिसमें उपयुक्त लोगों को उपयुक्त व्यवस्थाओं में बांधा जा रहा हो, इस प्रकार्यवादी मत का खंडन किया। इसके बजाय वे तर्क करते हैं कि समाज बहुत से द्वंद्वों और अन्यायों पर आधारित है जिसमें कई समूह और वर्ग अपने-अपने हितों को बढ़ाने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। अक्सर यह दूसरे वर्गों के हितों की कीमत पर किया जाता है। बाल्ज व गिन्टिस ने कहा कि अमेरिका में शिक्षा व्यवस्था फैक्ट्रियों की बढ़त के साथ नजदीकी रिश्ते में पनपी। उसका मुख्य काम था पूंजीवादी को आज्ञाकारी मजदूर मुहैया करवाना, ऐसे कामगार जो प्रश्न न पूछें और अपने शोषण का विरोध न करें। शिक्षा व्यवस्था एक अनुरूपता सिद्धान्त पर गढ़ी गई जिसमें सम्पन्न व शक्तिशाली तबकों के बच्चे बाकी समाज से भिन्न स्कूलों में गए, जहां वे औरों के मुकाबले एक खास दक्षता हासिल कर सकते थे। जहां पार्सन्स का कहना था कि अकादमिक उपलब्धि अमेरिकी शिक्षा व्यवस्था का आधार थी, बाल्ज व गिन्टिस का कहना था कि वह केवल एक सतही आभास थी। स्कूली व्यवस्था इस प्रकार रची गई थी जिससे अमीरों और सत्ता संपन्नों के बच्चे अच्छे साबित होते थे और उनमें दूसरों से ज्यादा 'योग्यता' दिखती थी। यह बाकी समाज को यह समझाने और शांत करने का तरीका था कि उनकी बेरोजगारी और वंचना उनकी अपनी कमी थी, जिसके कारण वे स्कूल में सफलता हासिल नहीं कर पाए। वास्तविकता में, पूंजीवादी व्यवस्था केवल कुछ को ही अच्छे वेतन वाले पद देना चाहती थी और ये जितने कम हों उतना अच्छा होगा। कामगार को जितना कम वेतन मिलेगा पूंजीवादी उतना मुनाफा कमाएगा। पूंजीवादी व्यवस्था को बेरोजगारों की एक अतिरिक्त फौज भी चाहिए थी ताकि कामगारों को कम तनखाएं स्वीकार करने पर मजबूर किया जा सके। स्कूल व्यवस्था अपनी छुपी असमानताओं और लोगों को फेल घोषित करके बाहर निकालने की आवश्यकता के साथ पूंजीवादी व्यवस्था के साथ अच्छी तरह मेल खाता था। यदि वर्तमान शिक्षा केवल पूंजीवादी के हितों द्वारा साधी गई होती, यह वर्ग व्यवस्था और असमानता को ही पुनरुत्पादित करने का ही तरीका होती। यह 'सामाजिक पुनरुत्पादन' (Social reproduction) मत कहलाता है।

सैमुअल बाल्ज का यहां दिया लेख इस विश्लेषण को भारत जैसे विकासशील देशों तक ले जाता है। बाल्ज का लेख 1970 का है और वह सरकार को केवल आर्थिक वर्गों की दृष्टि से देखता है। फिर भी यह सावधानीपूर्वक तर्क करता है और हमारी शिक्षा के एक प्रमुख पक्ष पर प्रकाश डालता है। बाल्ज के अनुसार विकासशील देशों में पूंजीवादी और पारंपरिक उत्पादन विधियों के बीच एक विशाल खाई है। पूंजीवादी उत्पादन शैली में ऊंची उत्पादकता और ऊंचे वेतन हैं। पारंपरिक उत्पादन में कम उत्पादकता और वेतन हैं। ज्यादातर देशों में शिक्षा लगभग पूरी तरह पूंजीवादी शैली की जरूरतों के अनुसार ढली हुई है जबकि जनता का बहुसंख्य हिस्सा जीवन-यापन के लिए पारंपरिक शैली पर निर्भर है। शिक्षा में समानता और एक मुक्त दृष्टिकोण पैदा करने का माद्दा है। लेकिन जब यह शक्तिशाली व शोषक वर्गों द्वारा नियंत्रित होती है, तो व्यवहार में यह कुछ और होती है। यह केवल पूंजीवादी व्यवस्था के लिए कामगारों की उत्पादकता बढ़ाने पर ही केन्द्रित हो सकती है और पारंपरिक कृषि और शिल्पों को केवल पड़े रहने और अवरुद्ध रहने को छोड़ देती है। यही नहीं, यह पारंपरिक तरीकों में जीने वाले लोगों के लिए या तो दरवाजे बंद रखती है या केवल बित्ता भर खोलती है, ताकि वे पूंजीवादी तरीकों में प्रवेश पा सकें। शिक्षा विकासशील देशों में एक महत्वपूर्ण विचारधारा का काम करती है। प्रभु वर्गों के हितों द्वारा नियंत्रित होने पर यह दीवारें भी खड़ी करती है जिससे लोग अलग किए जा सकें और उन सर्वव्यापी हालातों को न समझ पाएं, जिनमें वे रह रहे हैं। इस तरह से शहरी मजदूर कभी ग्रामीण मजदूरों के साथ एका स्थापित नहीं कर पाते।

ऊपर लिखा कुछ भी जरूरी या अवश्यम्भावी नहीं है। यह इस पर निर्भर करता है कि कौन से राजनैतिक गठबंधन और आर्थिक हालात किसी देश में मौजूद होते हैं। जिन क्षेत्रों में बड़ी पूंजी राजनीति को नियंत्रित करती है, वहां स्कूली शिक्षा पर बड़ा खर्च करने में कम ही रुचि है। इसके बजाय अनौपचारिक शिक्षा और कम वेतन पर ठेके पर रखे शिक्षकों के जरिए दिखावा भर ज्यादा है। वहां पर गरीबों के प्रति संवेदनशील राजनैतिक समूह सत्ता में हैं, वहीं बुनियादी शिक्षा दी जाती है और एक अच्छा व्यावसायिक शिक्षक वर्ग उभर पाता है।

शिक्षा के मार्क्सवादी सामाजविज्ञान में, जिसका उदाहरण सैमुअल बाल्ज का काम है, सामाजिक बदलाव को समझने और शिक्षा के इतिहास को समझने की कुंजी भी आर्थिक द्वंद्व है। मैक्स वेबर के काम ने शिक्षा और सामाजिक बदलाव को देखने का एक खास नजरिया जोड़ दिया है। जैसा इसे रंडाल कॉलिन्स जैसे विद्वानों ने समझा है, असली कारण इंसानों की एक-दूसरे को नियंत्रित करने की कोशिशों से अपनी लड़ाई है। कई स्थितियों में आर्थिक संसाधनों के लिए झगड़े महत्वपूर्ण हो सकते हैं, पर दूसरी स्थितियों में इंसानी इच्छाओं के बीच बुनियादी संघर्ष प्रभुत्व और बदलाव जैसी चीजों की व्याख्या करता है। हर व्यक्ति अपनी इच्छा पूरी करना चाहता/चाहती है। कॉलिन्स का कहना है कि यह अपरिहार्य है कि विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं के बीच टकराव होगा। लोग जो भी पाना चाहते हैं उसे बेहतर हासिल करने के लिए संसाधन एकत्र करने लगते हैं। समाज में एक अति-महत्वपूर्ण संसाधनों में से एक समूह है, जिसके जरिए एक व्यक्ति अपनी इच्छित चीजें करने की शक्ति को बढ़ा-चढ़ा सकता है। समूहों के बीच द्वंद्व-जो कि बहुत-सी सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक प्रक्रियाओं से जनित होता है-असल में मानव इतिहास के बारे में वेबर की दृष्टि के केन्द्र में है। रंडाल कॉलिन्स इस परिप्रेक्ष्य को शिक्षा व सामाजिक असमानता के ऊपर लागू करने की कोशिश करते हैं।

यहां दिए गए लेख में रंडाल कॉलिन्स शिक्षा के बढ़ते महत्त्व को नजदीक से देखते हैं। विकसित देशों में विभिन्न सामाजिक परतों को भूमिकाएं बांटने में शिक्षा हमेशा से कहीं बड़ी भूमिका निभा रही है। इसकी एक तकनीकी-प्रकार्यात्मक व्याख्या यह कहकर दी जाती है कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में ज्यादा तकनीकी ज्ञानों की आवश्यकता है। कॉलिन्स यह स्थापित करते हैं कि अधिक तकनीकी ज्ञानों की मांग एक पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। शिक्षा में बढ़वार और नौकरियों में न्यूनतम योग्यताओं की मांग असल में नौकरियों की तकनीकी जरूरतों से कहीं ज्यादा तेजी से बढ़ रही है। बहुत से उदाहरणों में, व्यवहारिक रूप में जो काम जैसा का तैसा है, उसमें भी शैक्षिक योग्यता कई दर्जा ऊंची चढ़ गई, कॉलिन्स दलील देते हैं कि यह ज्यादा इस वजह से हुआ होगा क्योंकि लोगों की छंटनी करनी है, बजाय इसके कि व्यवसाय की अपनी अंदरूनी दक्षता की जरूरत बढ़ गई है। जब आवेदकों की संख्या बढ़ती जाती है तो किसे चुनना है यह नियंत्रित करने का एक तरीका है कि न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता बढ़ा दी जाए। कॉलिन्स इस प्रक्रिया को प्रत्यायवाद (Credentialism) कहते हैं और इंगित करते हैं कि यह सत्ता-संपन्न समूहों द्वारा उन लोगों का दाखिला रोकने के लिए प्रयुक्त तरीका है जिनके पास सत्ता-संपन्नों जैसी ही संस्कृति और पहचान है। शिक्षा इस प्रकार एक समाज को तकनीकी ज्ञान देने का ही एक तरीका नहीं है बल्कि असमानता पैदा करने व बनाए रखने का औजार भी है। जो प्रक्रियाएं कॉलिन्स दर्शाते हैं वे बहुत से गैर-आर्थिक सन्दर्भों जैसे जेण्डर, जाति, नस्ल आदि में असमानता पर समझ पैदा करती हैं।

जॉन यू. ऑगबू उन खास प्रक्रियाओं का वर्णन करते हैं जिनके कारण कुछ समुदाय व समूह लगातार स्कूल में कम अच्छा प्रदर्शन कर पाते हैं। वे इंगित करते हैं कि गरीबी द्वारा उपजाई कठिनाइयों तथा उन बाधाओं में जो कि खास समुदायों के सदस्य होने से पैदा होती हैं, दोनों में एक बुनियादी अंतर है। ऑगबू अमेरिका में अश्वेतों का, भारत में अनुसूचित जातियों का और इंग्लैण्ड, इसरायल व जापान के मिलते-जुलते समूहों का वर्णन करते हुए जाति- जैसे शब्द का इस्तेमाल करते हैं, यद्यपि वे यह भी ध्यान दिलाते हैं कि भारत के जाति के ढांचे से इनमें कई असमानताएं भी हैं। 'जाति जैसे' समूहों के लिए, साधारण निचले वर्गों की अपेक्षा, बाकी समाज से कहीं ज्यादा अलगाव है। वे अपने जन्म और खून के रिश्ते से अपने समूह के सदस्य माने जाते हैं, इसलिए नहीं कि उनकी उपलब्धियों का स्तर कम है। एक वर्ग-व्यवस्था के साधारण गरीबों के सापेक्ष 'जाति-जैसे' अल्पसंख्यकों के प्रति एक भिन्न प्रकार का सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी है। इसलिए उनके लिए सामाजिक उन्नति

हासिल करना कहीं ज्यादा कठिन है। शिक्षा व्यवस्था सामाजिक उन्नति का एक प्रमुख माध्यम होने के कारण जाति- जैसे समूह एक स्पष्ट रूप से कमतर अकादमिक उपलब्धि दर्शाते हैं। जिन स्कूलों तक उनकी पहुंच है वे अक्सर कम संख्या में और घटिया होते हैं। स्कूली शिक्षा के प्रति एक व्यापक मोहभंग है और ये युवा अपनी आशाएं, अपनी ऊर्जाएं दूसरी ओर लगाते हैं। अक्सर ऐसे बच्चे एक ऐसी बचने की रणनीति अपनाते हैं जो स्कूली शिक्षा को नीचा समझती है और इससे और भी कम अकादमिक उपलब्धि हासिल हो पाती है। ऑगबू जाति जैसे अल्पसंख्यकों के वंचित किए जाने के घोर उदाहरण अपने शोध के पांचों देशों से देते हैं। वे तर्क करते हैं कि जिस प्रकार की मदद अन्य निचले वर्गों को दी जाती है, यदि समाज वैसी मदद इन समूहों को देंगे तो अवश्य ही वह मदद बेकार जाएगी। कई अल्पसंख्यकों के 'जाति जैसे' स्वरूप के कारण उनके लिए खास तरह की पहल और मदद की आवश्यकता रहेगी।

पियरे बोर्ड्यू ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख में पूंजी के विचार का संस्कृतिक और सामाजिक रूपों तक विस्तार किया है। असमानता को समझने के लिए पूंजी की अवधारणा मूल मंत्र की तरह है। पूंजी श्रम का संचित स्वरूप है, जो कठिन श्रम से उपजे संसाधनों को एक जगह पर ले आती है। एक परिपूर्ण बाजार वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के पास शुरुआत के लिए समान पूंजी और समान उवसर उपलब्ध हों। लेकिन जब कुछ लोगों के पास बाकी लोगों से ज्यादा पूंजी होती है तो वे सब तरह की सौदेबाजी में लाभ की स्थिति में रहते हैं। यह हो सकता है कि यह पूंजी उन्होंने अपने कठिन श्रम से अर्जित की हो, लेकिन ज्यादातर लाभ यह विरासत में प्राप्त होते हैं। बोर्ड्यू जिस मूल समस्या की तरफ ध्यान दिलाना चाहते हैं वह यह है कि एक ऐसे समाज में जहां कुछ लोगों के पास अन्य लोगों से ज्यादा पूंजी होती है वहां गिने-चुने लोगों को अनुचित फायदा मिलता है।

कल्याणकारी समाजों में पिछली दो सदियों से जारी संघर्षों में आर्थिक पूंजी के द्वारा असमानता की क्षतिपूर्ति करने की कोशिश की जाती रही है। लेकिन अब बोर्ड्यू इस बात को रेखांकित करते हैं कि यह पूंजी के अन्य स्वरूप हैं जो निर्णायक भूमिका निभाते हैं। यह भूमिका निभाने का काम पूंजी के क्रमशः सांस्कृतिक और सामाजिक स्वरूप करते हैं। जब हम उन्हें पहचानने लगते हैं तब हम समाज में लाभ और हानि की स्थितियों के नए स्वरूपों को देखना शुरू कर देते हैं।

पूरी दुनिया में हुए अध्ययनों से जो भी सिद्धान्त या समझ उपजी है उसमें बहुत से विचार भरतीय वास्तविकता से भी मेल खाते हैं। ये हमें अपनी परिस्थितियों में ज्यादा गहरी दृष्टि देते हैं और हमारी दुनिया को बदलने के संघर्ष के बेहतर तरीके सुझाने में मदद करते हैं। यह स्पष्ट है कि जो असमानता आधुनिक समाजों को ढालती है, उसके केन्द्र में शिक्षा है। पर साथ ही साथ, एक अधिक विवेकपूर्ण और ज्ञान से उपजी भविष्य दृष्टि इसमें भी मदद कर सकती है कि हम शिक्षा का उपयोग अवसरों के ढांचे को बदलने और लोगों की जिन्दगियों में इजाफा करने के लिए कर सकें।

अन्त में, मैं दिगन्तर का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे हिन्दी पाठकों के लिए शिक्षा और सामाजिक स्तरीकरण पर सुप्रसिद्ध लेखन को हिन्दी में लाने का अवसर दिया। इस अनुभव से भारतीय शिक्षा में योगदान देने के लिए मुझमें दिगन्तर के प्रति नया सम्मान पैदा हुआ है। मैं शिक्षा विमर्श के निर्भीक संपादक विश्वंभर का विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने शिक्षा के समाजशास्त्र पर अंकों की श्रृंखला का प्रस्ताव रखा और इन लेखों का अनुवाद करवाने के लिए भारी श्रम भी किया। उनकी प्रतिबद्धता हमेशा ही प्रेरणा का स्रोत रही है।

मैं सभी अनुवादकों का भी आभारी हूँ, उन्होंने कुछ बेहद कठिन गद्यों को हिन्दी में बदलने में श्रम किया है। विशेषकर श्री नंदकिशोर आचार्य जी के प्रति मेरा विशेष आभार है जिन्होंने बहुत सावधानीपूर्वक इन सभी अनुवादों को संवारा है। ♦

**अमन मदान**